

# कयामत से पहले जागना होगा

के. जयलक्ष्मी



यदि आंकड़ों पर भरोसा किया जाए तो एक और वैज्ञानिक अध्ययन ने साबित कर दिया है कि जलवायु परिवर्तन एक कड़वी सच्चाई है और धरती पर खतरा मंडरा रहा है।

जलवायु परिवर्तन को नकारने वाले लोगों की बढ़ती संख्या के बीच बर्कले अर्थ सर्फेस टेम्परेचर प्रोजेक्ट ग्रुप को सच्चाई का पता लगाने का जिम्मा सौंपा गया था। इसके लिए ग्रुप को एक लाख डॉलर दिए गए थे। अमरीका में जलवायु परिवर्तन को नकारने वाले लोगों को इस फंडिंग के लिए मनाना ही एक भारी काम था।

अध्ययन के नतीजे बताते हैं कि जलवायु परिवर्तन का ग्राफ लगभग वैसा ही है जैसा विश्व के तीन बेहद अहम और स्थापित समूहों एनओएए, नासा और मेट ऑफिस एंड क्लाइमेट रिसर्च यूनिट ने प्रस्तुत किया है। हालांकि शंकालु लोगों ने इनके कार्यों को भी अविश्वसनीय और नाकारा करार दिया था।

धरती तप रही है, यह साबित करने के लिए प्रोजेक्ट ने 18वीं सदी से लेकर अब तक के तापमान के एक अरब से भी अधिक आंकड़ों का परीक्षण किया। ये आंकड़े दुनिया भर में 15 अलग-अलग स्रोतों से हासिल किए गए थे। पाया गया कि 1950 के बाद से धरती के औसत तापमान में करीब एक डिग्री सेल्सियस की बढ़ोतरी हुई है। महत्वपूर्ण बात यह है कि 20वीं सदी में तापमान में औसत बढ़ोतरी जहां 0.73 डिग्री सेल्सियस थी, वहीं 1960 से 2000 के बीच 2.76 डिग्री सेल्सियस और 1998 से 2010 के बीच 2.84 डिग्री सेल्सियस रही।

ग्रुप ने 'मीन-मेख निकालने वाले' ब्लॉगरों के उस दावे की भी पड़ताल की कि जलवायु स्टेशनों के तापमान सम्बंधी आंकड़े वैश्विक तापमान के सही ट्रेंड को प्रदर्शित नहीं करते। दावा यह था कि इन स्टेशनों पर अधिक तापमान रिकॉर्ड होता है, क्योंकि वे शहरों में या उनके निकट होते हैं। ये शहर लगातार बढ़ते जा रहे हैं और 'शहरी ऊष्मा

टापू प्रभाव' में अपना योगदान दे रहे हैं। उनका मानना है कि शहरी ऊष्मा टापू प्रभाव तो एक सच्चाई है, लेकिन समग्र तापमान के ट्रेंड पर उसका असर काफी 'नगण्य' ही पड़ता है।

लगभग 97 फीसदी जलवायु वैज्ञानिक मानते हैं कि जलवायु परिवर्तन हो रहा है और इसकी मुख्य वजह मानवीय गतिविधियां ही हैं। लेकिन इस बात में संदेह ही है कि यह नया अध्ययन भी इससे आंख चुराने वालों को बदल सकेगा। अगर कोई चीज़ साफ दृष्टिगोचर नहीं है और उसे सीधे मापना संभव नहीं है, तो वहां निश्चित तौर पर दो मत होंगे और दोनों ही अपने-अपने तर्कों पर अडिग रहेंगे। जैसा कि नासा के जैम्स हैन्सेन कहते हैं, "... आंखें चुराने वाले लोग वैज्ञानिक जैसा नहीं, बल्कि वकील जैसा बर्ताव करते हैं। जैसे ही वे अपने मुवक्किल 'जीवाश्म ईंधन उद्योग' के खिलाफ कोई सबूत देखते हैं, वे उसे नकार देते हैं और वह सब कुछ प्रस्तुत करने की कोशिश करते जिससे कि जर्जों और जूरी को भ्रमित किया जा सके।"

यदि हम यह मानते हैं कि जलवायु परिवर्तन के मूल में मानव है, तो हमें एक और चुनौती से निपटना होगा। यह चुनौती है बढ़ती आबादी।

हम सात अरब की आबादी को पार कर चुके हैं। हम असंख्य जीवों के लिए खतरा बन गए हैं। वर्ष 1999 में हम छह अरब हुए थे। इस तरह छह से सात अरब होने में हमें महज़ 12 साल लगे। इससे 12 साल पहले 1987 में हमारी आबादी पांच अरब हुई थी। और साफ शब्दों में कहें तो पिछले पांच दशकों में ही हमारी आबादी में चार अरब की बढ़ोतरी हो चुकी है। अगले 12 सालों में हमारी आबादी के आठ अरब तक पहुंचने का अनुमान है। वर्ष 2050 तक 9.3 अरब और 2100 तक आबादी 10.1 अरब हो जाएगी।

वर्ष 2100 तक धरती पर ताज़े पानी की मात्रा में 10 फीसदी तक की कमी हो सकती है। यही स्थिति खेती की

भी हो सकती है, जो बर्फ रहित धरती के करीब 40 फीसदी हिस्से में होती है। अगर यही हालात बने रहते हैं या उनमें गिरावट आती है तो उसका मतलब है कि भोजन की आवश्यकता के लिए जंगलों का सफाया करना होगा ताकि अधिक से अधिक खेती की जा सके। इसका नतीजा कार्बन उत्सर्जन में बढ़ोतरी के रूप में सामने आएगा। साथ ही अन्य कई समस्याएं भी पैदा होंगी, जैसे मिट्टी का कटाव, नदियों का सूखना इत्यादि।

प्रख्यात अर्थशास्त्री जेफ्री सेचेस का कहना है कि सात अरब लोगों का पेट भरने के लिए हमें बहुत अधिक उर्वरकों की ज़रूरत है, ताकि कृषि का उत्पादन बढ़ाया जा सके। इस वजह से दुनिया के जल भंडार पहले से ही खतरे में हैं जिसके परिणाम नज़र आने भी लगे हैं। सौ से भी अधिक नदियों के मुहाने सूखते जा रहे हैं, ऊर्जा की बहुत अधिक खपत और वनों के विनाश के कारण कार्बन की मात्रा भी बढ़ती जा रही है।

सवाल यह है कि ज़मीन तो सीमित है। तो ऐसे में 2050 में हम नौ अरब लोगों का पेट कैसे भर सकेंगे। कनाडा, अमरीका, स्वीडन और जर्मनी के शोधकर्ताओं की एक अंतर्राष्ट्रीय टीम ने दुनिया भर में होने वाली फसलों के आंकड़ों और उपग्रह तस्वीरों का संयोजन करके कृषि प्रणालियों व पर्यावरणीय प्रभावों के ग्लोबल मॉडल्स का इस्तेमाल यह योजना बनाने में किया है कि पर्यावरण पर



विपरीत असर पड़े बिना खाद्य उत्पादन को किस तरह से दुगना किया जा सकता है। इन शोधकर्ताओं के अध्ययन पर कार्य करने वाले मैकगिल युनिवर्सिटी में भूगोल के प्रोफेसर नवीन रामनकुट्टी ने *नेचर* पत्रिका में इस पांच सूत्रीय योजना की बात करते हुए इसे कुछ-कुछ नाटकीय करार दिया है, लेकिन टीम का दावा है कि इस लक्ष्य को पाना संभव है।

टीम ने जो उपाय सुझाए हैं, उनमें शामिल हैं - कृषि के लिए जंगलों को साफ करने की प्रवृत्ति पर विराम लगाना, विकासशील देशों में कृषि की उत्पादकता में 60 फीसदी तक की बढ़ोतरी करके उसे विकसित देशों के समकक्ष लाना, उर्वरकों और अन्य कृषि रसायनों का आवश्यकतानुसार ही किफायत से इस्तेमाल करना, वनस्पति आधारित भोजन को बढ़ावा देना और पशु आहार या बायोफ्यूल के लिए अनाज का कम से कम उपयोग करना। साथ ही अनाज की बर्बादी को रोकना; अनाज के कुल उत्पादन का एक तिहाई हिस्सा यूं ही बर्बाद हो जाता है।

यह कवायद हमारे बचे-खुचे उष्णकटिबंधी वनों अथवा ऊपरी मृदा को नुकसान पहुंचाए बगैर दुनिया के एक बड़े हिस्से का पेट भरने का गणितीय समाधान सुझाती है। लेकिन कृषि में सुधार की राह में राजनीतिक और सामाजिक कारण सामने आएंगे। जंगलों को साफ करके खेती के लिए नई ज़मीन हासिल करने अथवा जीवाश्म ईंधन के इस्तेमाल वाले उपकरणों पर निर्भरता कम करने वाली प्रणाली की तरफ बढ़ने के लिए एक दृष्टि तथा अभूतपूर्व वैश्विक प्रयासों की ज़रूरत होगी।

जलवायु परिवर्तन का सबसे पहला शिकार गरीब होंगे। ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रायोजित एक रिपोर्ट जलवायु परिवर्तन की वजह से संभावित मानवीय विपदा को लेकर आगाह करती है। रिपोर्ट चिंता जताती है कि जलवायु परिवर्तन के कारण होने वाले पर्यावरणीय विनाश से लाखों तथाकथित 'जलवायु शरणार्थी' अपनी बंजर ज़मीनों को छोड़कर उन देशों में पलायन करेंगे जहां कम नुकसान होगा।

रिपोर्ट कहती है कि अभी से सक्रिय होना आर्थिक दृष्टि से भी लाभदायक होगा। स्थिति में सुधार करने के लिए हमें

आज जो खर्च करना होगा, वह जलवायु परिवर्तन के कारण होने वाले संघर्षों और जीवन की क्षति की तुलना में बहुत कम रहेगा। 'पलायन और वैश्विक पर्यावरणीय परिवर्तन सम्बंधी दूरगामी रिपोर्ट' मानव पलायन के पैटर्न के मुद्दे पर केंद्रित है। अगले 50 सालों में बाढ़, सूखा और समुद्र सतह के स्तर में बढ़ोतरी का मानव पलायन के पैटर्न पर क्या असर पड़ेगा, इस सम्बंध में इसमें विस्तृत अध्ययन किया गया है। यह रिपोर्ट कहती है कि तीन-चौथाई पलायन देशों के भीतर ही होगा। खासकर, लोग ग्रामीण से शहरी इलाकों में जाएंगे। इससे सबसे बड़ा मुद्दा यह खड़ा होता है कि आबादी के इतने व्यापक दबाव में इन शहरों का प्रबंधन कैसे होगा। कोलंबिया में जनसंख्या के प्रोफेसर जोएल कोहेन कहते हैं कि जनसंख्या विस्फोट को संभालने के लिए हमें अगले 40 सालों के दौरान हर पांच दिन में ऐसे एक-एक शहर का विकास करना होगा, जहां दस-दस लाख लोग रह सकें।

समस्या की जड़ या उसका समाधान हमारे अस्त-व्यस्त व्यवहार और प्रेरणाओं में समाहित है। लंदन स्थित युनिवर्सिटी कॉलेज में एक वरिष्ठ रिसर्च एसोसिएट जॉन बर्ड ने हाल ही में दक्षिण लंदन के तटीय शहर में ऐसे 17 परिवारों का समूह बनाया जो अपने घरों में बिजली के इस्तेमाल का रोज़ाना रिकॉर्ड रखने को तैयार हो गए। उनकी प्रगति को

साफ-साफ चित्रित किया जा सके, इस उद्देश्य से उन्होंने पड़ोस के गोल्डस्मिथ कॉलेज के कुछ कलाकारों को सड़क पर विशालकाय ग्राफ बनाने के लिए भी राज़ी किया।

शुरु में सब कुछ योजनानुसार हुआ। तीन सप्ताह में नागरिकों ने अपने बिजली के बिल में 15 फीसदी तक की कटौती कर दी। लोग उनके प्रयासों की सराहना कर रहे थे। जो लोग प्रयास नहीं कर रहे थे, उनकी खिंचाई भी की जा रही थी। अगले तीन सप्ताह के दौरान कुछ घर इससे अलग हो गए। लेकिन अब भी 80 फीसदी परिवार इसे जारी रखे हुए थे। मगर छह सप्ताह के भीतर उनकी संख्या घटकर करीब 50 फीसदी रह गई। छह माह के बाद केवल तीन परिवार ही अपने मीटर की जांच रोज़ाना कर रहे थे। इनमें से भी दो ही बिजली की खपत को कम रखने में सफल रहे।

लोगों के पास अगर आंकड़े हों तो उनके बर्ताव में बदलाव तो होता है। अगर साथ ही कुछ प्रेरणा मिल जाए तो बदलाव सकारात्मक भी होता है। लेकिन यह बदलाव लंबे समय तक नहीं चलता। कहते भी हैं, पुरानी आदतें मुश्किल से ही जाती हैं। सच तो यह है कि हम इन्सान तब तक बदलाव को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते हैं, जब तक कि समस्या हमारे सिर पर खड़ी नहीं हो जाती। और फिर हम कहते हैं, यह तो होना ही था। (स्रोत फीचर्स)